

बुद्ध युगीन भारत की धार्मिक स्थिति एवं शासन प्रणाली

डॉ. राज बहादुर यादव*

बौद्धधर्म के उद्भव के पूर्व वैदिक धर्मानुयायी पशुयज्ञ को वैसा ही महत्वपूर्ण मानते थे जैसा वैदिक युग के आर्य। वे अनेक प्रकार के यज्ञों का अनुष्ठान करते थे, जैसे— अश्वमेध यज्ञ, पुरुषमेध यज्ञ, वाजपेय यज्ञ आदि।¹ यज्ञों के प्रमुख अनुष्ठानकर्ता ब्राह्मण महासाल थे। वे स्वयं बड़े-बड़े यज्ञ करते थे एवं राजा द्वारा आयोजित यज्ञों में 'होता' का कार्य सम्पन्न करते थे। महायज्ञों में गाय, वृषभ, बछड़े, बछियाँ, बकरे, भेड़, सुअर, घोड़े, हाथी आदि पशुओं की तथा अनेक पक्षियों की बलि दी जाती थी।² इससे विदित होता है कि जिन पशुओं की बलि देने की प्रथा वैदिक युग में नहीं थी उनकी बलि दी जाने लगी थी, जैसे हाथी। यज्ञों में आडम्बर के बढ़ जाने से यज्ञ केवल घनाढ्यो तक सीमित रह गया, उसमें सही भावनाओं एवं विश्वासों का अभाव हो गया था। यज्ञों की अधिकता एवं जटिलता के कारण पुरोहितों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गई।³ सत्रह व्यक्तियों द्वारा किये जाने वाले यज्ञ कितने अपव्ययात्मक होते रहे होंगे, इसका सहज अनुमान नहीं लगाया जा सकता। जहां एक ओर समाज के निम्नवर्ग को मान्यता देकर धर्म को व्यापक स्वरूप प्रदान किया जा रहा था वहीं दूसरी ओर ब्राह्मण धर्म में जटिलता को प्रश्रय मिलने के कारण समाज एक संकुचित विचारधारा की ओर मुड़ने लगा था।

समाज में ब्राह्मणों का प्रभुत्व होने के कारण उन्हें यज्ञ में जनता का पूर्ण सहयोग मिलना स्वाभाविक था। जो ब्राह्मण महासाल प्रभावशाली थे उनके यज्ञ में अधिकाधिक मात्रा में लोग एकत्र हो जाया करते थे। काश्यप बन्धुओं के वार्षिक यज्ञ समारोह में अंग-मगधवासी बड़ी संख्या में एकत्र हुआ करते थे।⁴ ब्राह्मण धर्म में पशुयज्ञ के अतिरिक्त गृह यज्ञ श्रोत यज्ञों का भी विधान है।⁵

बौद्धधर्म के उदय के पूर्व पशु यज्ञ उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुंच गया था और पुरोहितों की जीविका का प्रमुख साधन बन गया था। बिना दक्षिणा के यज्ञ अपूर्ण एवं निष्फल माना जाने लगा था। जन्म से लेकर मरण तक प्रत्येक संस्कार के साथ यज्ञ होना अनिवार्य हो गया था। यज्ञ करने में अधिकाधिक धन व्यय होने लगा था इसका कारण ब्राह्मणों को प्रभूत दक्षिणा देना था। अतः लोग आत्मिक शान्ति के लिए याज्ञिक कर्मकाण्डों के विरुद्ध नये उपायों की ओर अग्रसर होने लगे जिसमें हठयोग एवं तपस्या मुख्य थी। लोगों में यह विश्वास तीव्रगति से फैल रहा था कि कठिन

तपस्या करने में ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति हो सकती है। अतः व्यक्ति आत्मिक शान्ति की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार की तपस्या करने लगे। तत्कालीन समाज में तामसी तप का प्रसार अधिक हो गया।⁷

किन्तु जनमानस की हठयोग, तपस्या एवं यज्ञ और बलिदान से भी आत्मिक शान्ति नहीं प्राप्त हुई तो लोग आत्मा-परमात्मा जीव के सुख-दुःख के लिए परमात्मा के गूढ़ विषयों पर विचार किया और उपनिषदों का अनुशीलन करना प्रारम्भ किया। उनके द्वारा प्रतिपादित विचारों का अध्ययन एवं मनन होने लगा। किसी ने उपनिषदों में अद्वैतवाद का दर्शन किया तो किसी ने विशिष्टाद्वैत का।⁸ इस प्रकार अनेक मत-मतान्तर हो गए। 'जनार्दन भट्ट' के अनुसार महात्मा बुद्ध के जन्म के समय समाज में तीन मुख्य धाराएं अति प्रबलता से प्रचलित थीं वे निम्न हैं— यज्ञ, -बलिदान, हठयोग और तपस्या तथा ज्ञान मार्ग और दार्शनिक विचार। किन्तु इनके नीचे छोटी विचारधाराएं यथा जादू-टोने, सर्प वृक्ष की पूजा, भूत-प्रेत आदि का भी माहात्म्य था।⁹

ऋग्वैदिक काल में किसी एक देवता की प्रतिष्ठा न थी अपितु एक से अधिक देवी देवताओं की अर्चना की जाती थी।¹⁰ मनुष्य की बाह्य एवं आन्तरिक जगत सभी देवों से आच्छन्न हो गया था। इनमें कुछ देवता प्रकृति के, कुछ वानस्पतिक जगत के, और कुछ पाशविक जगत से सम्बन्धित थे। विशाल देव समूहों से बहुदेववाद की विकसित अवस्था ज्ञात होती है।¹¹ मानव जीवन के आधार सूर्य, पवन, जल, अग्नि आदि को वैदिक आर्यों ने देव के पद पर प्रतिष्ठित किया। 'रमेशचन्द्र दत्त' के अनुसार वैदिककाल में आकाश, इन्द्र, पवन, सूर्य, सवित्र, विष्णु, वायु, रुद्र, मरुत आदि देवता के रूप में प्रतिष्ठित थे।¹² देवों को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ किये जाते थे, जो प्रारम्भ में अत्यन्त सरल होते थे। कोई भी व्यक्ति स्वतः मंत्रों की सहायता से यज्ञ कर सकता था, उसमें न तो जटिलता थी और न हिंसा। कालान्तर में जटिलता एवं हिंसा बढ़ गई जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। 'बाथ महोदय' के अनुसार ऋग्वेद से विविध देवताओं की सत्ता का आभास होता है जो तत्कालीन बहुदेववाद का परिचायक है।¹³

इस प्रधान वैदिक धर्म में अग्निदेव का बड़ा महत्व था। वे इस पृथ्वी तल पर देवताओं के प्रतिनिधि थे, जिनके माध्यम से देवगण मनुष्यों द्वारा प्रदत्त बलि ग्रहण करते थे। द्विजातियों के दैनिक अनुष्ठानों में अग्निहोत्र की थी। गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों में गृहस्थों के लिए गृहयज्ञों का विधान किया गया है। जिनमें अग्निपूजन अनिवार्य होता था।¹⁴

सूर्य का स्थान वैदिक देवताओं में महत्वपूर्ण है। वेदों में उनके पांच रूप माने गए हैं किन्तु चन्द्रमा को महत्व नहीं दिया गया है।¹⁵ 'श्री' अर्थात् लक्ष्मी की पूजा सभी वर्ग के लोग करते थे। श्रद्धा, आशा, हिरि सदृश अमूर्त देवी देवताओं की भी पूजा की जाती थी।

किन्तु समय के परिवर्तन के साथ ही उत्तर वैदिक काल में वैदिक देवताओं के अतिरिक्त अनेक यक्ष, भूत-प्रेत आदि को भी पूजा का पात्र मान लिया गया, और ऐसे अनेक धार्मिक विचारों एवं व्यवहारों को मान्यता दी गई, जो ऋग्वैदिक काल में

*पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर

अमान्य थे।¹⁶ उत्तर वैदिक कालीन साहित्य से ज्ञात होता है कि उस समय समाज में लौकिक मान्यताएं एवं अन्धविश्वास चरमसीमा पर थे। नलिनाक्ष दत्त ने हस्त ज्योतिष, सभी प्रकार के दैव कथन, दैवी घटनाओं से फलों के कथन, स्वप्नफल, मंत्र-तंत्र, प्रेत विद्या, इन्द्रजाल विद्या का वर्णन किया है जो जन सामान्य को अपनी ओर आकृष्ट किये हुए था।¹⁷ मनुष्य इन लौकिक मान्यताओं में आशा से अधिक विश्वास करने लगा था। उस समय प्रतीकात्मक, रहस्यमय विद्याओं और उपासनाओं का आविर्भाव हुआ जिसके साथ आरण्यक जीवन का प्रचार हुआ।

वैदिक समाज में नागपूजा का प्रचलन नहीं था। नागदेवता आर्यतर जातियों में पूजित थे। अवान्तर काल में जब आर्यतर जातियाँ आर्य समाज में विलीन हो गईं; तो नाग पूजा को आर्य समाज ने अपना लिया। ऋग्वेद में आर्यदेवता एवं नागों की शत्रुता का उल्लेख हुआ है। इन्द्र ने वृत्र तथा आदि नाग का दर्प-मर्दन किया था।¹⁸ महाभारत में नागपूजा का उल्लेख प्राप्त होता है।¹⁹

आर्यतर जातियों में नागपूजा सर्पदंश के भय के निवारण के लिए प्रारम्भ की गई। भारतीय ग्रामीण जनता में यह विश्वास दृढ़ था कि सर्पदंश से मुक्ति के लिए नागपूजा करनी चाहिए।²⁰

ऋग्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों में यज्ञों का उल्लेख प्राप्त होता है²¹ किन्तु इस बात का निश्चित रूप से पता नहीं चलता है कि भारत में यक्ष पूजा कब से प्रारम्भ हुई। यक्षों के अनेक बड़े केन्द्र मथुरा, आलवी आदि स्थानों पर थे। नलिनाक्ष दत्त ने मथुरा के आलवी यक्ष का वर्णन किया है। ऋग्वेद में कहीं-कहीं इसका प्रयोग मृत व्यक्ति की आत्मा के लिए किया गया है।

वृक्ष पूजा की प्रथा भी अति प्राचीन है। ऋग्वेद में 'अरण्यानी' की पूजा का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में 'अश्वस्थ' या 'पिप्पल' वृक्ष का उल्लेख किया गया है²² किन्तु उनकी पूजा का उल्लेख नहीं है। वृक्ष पूजा का उल्लेख अथर्ववेद, ब्राह्मण एवं उपनिषद् में सर्वप्रथम उपलब्ध होता है।²³ वृक्ष पूजा आर्यतर जातियों की देन है, इसका सर्वाधिक प्रबल प्रमाण हड़प्पा युगीन सभ्यता में पीपल वृक्ष की पूजा का प्रचलन है। वे लोग स्वाभाविक रूप से या वृक्ष के आर्विमूयमान देवता के रूप में करते थे।²⁴

बौद्ध पालि ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में वृक्ष पूजा बड़ी व्यापक थी। वृक्षों को देवता, अप्सरा, नाग, प्रेतात्मा आदि का निवास स्थान मानकर लोग संतान, यश, धन, इत्यादि की अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए वृक्षोपासना करते थे।²⁵ वस्तुतः वृक्ष पूजन नहीं होता था, पूजा तो वृक्ष में निवास करने वाले देवता अथवा प्रेतात्मा की होती थी।

उपनिषद् युग में लोगों की मान्यताओं में परिवर्तन आया और अध्यात्म का विकास हुआ। लोगों में यह भावना दृढ़ होने लगी कि मोक्ष केवल वैदिक यज्ञ और धार्मिक अनुष्ठानों द्वारा ही नहीं प्राप्त किया जा सकता, अपितु उसके लिए अन्य उपाय भी हैं। अतः वे आत्मज्ञान की ओर प्रेरित होने लगे। वैदिक संस्कृति तथा पुरोहित

समुदाय के धार्मिक अनुष्ठान जन सामान्य के लिए दुर्बोध हो गए थे।²⁶

उपनिषद् युग में एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ जो वेदों को पूर्ण एवं उसके रचयिताओं को सर्वज्ञ मानने के लिए तैयार न थे। उनकी दृष्टि में वैदिक ज्ञान भी सीमित एवं त्रुटिपूर्ण है। वृहदारण्यकोपनिषद् में एकमात्र पुस्तकीय ज्ञान के प्रति असन्तोष व्यक्त किया गया है।²⁷ औपनिषद् मनीषियों ने यज्ञों को मंत्र की अपेक्षा आध्यात्मिक ढंग से करने को कहा है।

“यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म, यज्ञो वै ब्रह्म। यज्ञो वै विष्णु, आत्मा वै यज्ञ।।”

छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि यज्ञ में पितृलोक की प्राप्ति भले ही हो जाए किन्तु उससे चरम लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती है। भगवद्गीता में भी वर्णित है कि— “सबकी श्रद्धा सत्वानुरूप होती है, मनुष्य श्रद्धामय है अर्थात् जिसकी जैसी श्रद्धा है, वह वैसा ही है, सात्विक पुरुष देवताओं का यजन करते हैं, राजसिक यक्ष राक्षसों का, तथा अन्य तामसिक जन भूत-प्रेतों का।²⁸ इस प्रकार देवपूजा वैदिक थी, यक्षपूजा²⁹ तामसिक थी जो जन सामान्य में प्रचलित थी। गोविन्दचन्द्र पाण्डेय के अनुसार यक्ष शब्द सामान्यतः देवता के समान अर्थ रखता था और यक्षपूजा को अनेकांश में आर्य धर्म का प्रचलित एवं परिवर्तित रूप मानना अनुपयुक्त न होगा।³⁰

प्राचीन काल में शासन संस्था की स्पष्ट जानकारी प्राप्त नहीं होती और यह माना जाता है कि यदु, तुर्वशु, क्रीवि जैसे नाम जिनका उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है भ्रमणशील और इसी तदनुक्रम में उनके राज्य में भी बदलाव आता था, उत्तर वैदिककाल तक आते-आते राज्य की अवधारणा स्पष्ट होने लगी थी।³¹ इसे जनहित संवर्द्धक संस्था के रूप में मान्यता दी गयी थी। वैदिक वींमय में सभा-समिति जैसी संस्थाओं का उल्लेख मिलता है इसका तात्पर्य वर्तमान संसद के साथ भी जोड़ा जा सकता है इसके द्वारा राजा की प्रभुसत्ता पर नियंत्रण रखा जाता था।

उत्तरवैदिक काल में राज्य की स्पष्ट अवधारणा आ चुकी थी।³² शासक को एकराट, सम्राट, वैराज्य, अधिराज जैसी उपाधियाँ मिलने लगी थी प्राचीन काल में राजतंत्र, गणतंत्र, राज्य संघ एवं सम्मिलित राज्य की अवधारणा प्राप्त होती है।

इस प्रकार वैदिक काल में आर्यों का राजनीतिक आधार 'जन' था। उत्तर वैदिक युग में 'जनपद' का विकास हुआ, और बौद्ध युग आते-आते छोटे-छोटे जनपदों को मिलाकर महाजनपदों का निर्माण हुआ। राजा को मुख्य आधार बनाकर एक प्रशासकीय पद्धति का निर्माण किया गया। राज्य के अन्तर्गत जन, विश एवं ग्राम होते थे। जन के वृद्ध सदस्यों की संस्था राज्य के कार्यों में राजा को सहायता देती थी। राजा के निकटतम दो सहयोगी होते थे। जिन्हें पुरोहित एवं सेनानी कहा जाता था।³³

सातवीं शताब्दी ईसा पूर्व तक प्राचीन आर्यों की पुरातन परम्पराओं और उनके राजनीतिक स्वरूप में परिवर्तन आने लगा था। बौद्ध धर्म के उदय के पूर्व ही षोडश महाजनपदों का विकास हो चुका था। बौद्ध एवं जैन साहित्य में षोडश

महाजनपदों के भिन्न-भिन्न नाम दिये गये हैं। अंगुत्तर निकाय में उस समय के षोडश महाजनपदों के नाम इस प्रकार थे— काशी कौशल, अंग, मगध, वज्जि, मल्ल, चेतिय, वत्स, कुरु, पांचाल, मच्छ, शूरसेन, अस्मक, अवन्ति गांधार और कम्बोज।³⁴ जैन ग्रन्थ भगवती सूत्र में अंग, वंग, मगह, मलय, मालय, अच्छ, वच्छ, कच्छ, पाध, लाध, वज्जि, मोलि, काशी, कोसल, अवाह और समुत्तर। दोनों सूचियों में अंग, मगध, काशी, कोशल, वत्स और वज्जि का समान रूप से उल्लेख किया गया है।

गोविन्दचन्द्र पाण्डेय महोदय ने जैन ग्रन्थ वियाहपन्नति का उदाहरण प्रस्तुत किया है जिसमें भिन्न सूची प्राप्त होती है, उसमें बंग, पाठ और लाठ के नाम उल्लिखित हैं। उनके अनुसार उस समय जनपद परस्पर संघर्ष में निरत थे और उनकी स्थिति परिवर्तनशील हो गई थी।³⁵

बौद्धधर्म के उदय की पृष्ठभूमि में तत्कालीन राजा और राजनीति ने महत्वपूर्ण योगदान दिया जिसका उल्लेख 'गोविन्दचन्द्र पाण्डेय' ने बौद्ध धर्म के उद्भव में किया है।³⁶ उनके अनुसार राजाओं का पारस्परिक संघर्ष बहुत बढ़ गया था। उस समय कुछ जनपद राजाओं के अधीन थे, और कुछ गणों के अधीन थे। काशी उपनिषद् युग में एक शक्तिशाली एवं स्वतंत्र राज्य के रूप में जानी जाती थीं किन्तु ईसा पूर्व छठी शताब्दी में वह कोशल साम्राज्य की अंग बन गई। इस तरह हर्यक वंशीय विम्बिसार के समय में मगध ने अंग जनपद को बलपूर्वक आत्मसात् कर लिया। शाक्य गण कौशल की अधीनता स्वीकार करता था, तब भी विड्डम ने उस पर आक्रमण किया और अजातशत्रु ने लिच्छवि गणराज्यों से युद्ध करके अपने अधीन किया।³⁷

इस प्रकार अनेक गणतंत्रों का ह्रास हो गया और राजतंत्रों का विकास हुआ जिससे मगध राज्य को विस्तृत होने का अवसर प्राप्त हुआ। बौद्धधर्म के उदय के समय आर्यावर्त इन्हीं छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था, जो आपस में हमेशा युद्ध किया करते थे। उस समय कोई ऐसा संगठित साम्राज्य या राज्य नहीं था जो इन सबको अपने अधिकार में रखता। 'जनार्दन भट्ट' के अनुसार लोगों में राजनीतिक स्वतन्त्रता का भाव प्रबलता से फैला हुआ था, कोई उनकी स्वतंत्रता में बाधा डालने वाला नहीं था। प्रत्येक गांव एवं प्रत्येक नगर स्वयं अपना प्रबन्ध करते थे। गांव एवं नगर एक छोटे-छोटे प्रजातन्त्रात्मक राज्य के रूप में स्थित थे।³⁸

महाभारत,³⁹ दीघ निकाय⁴⁰ एवं अर्थशास्त्र में समाज राज्य एवं गणों के अधिकारों का वर्णन किया गया है। अधिकांशतः शासन की बागडोर क्षत्रियों के हाथ में थी। उत्तर पूर्वी भारत के शाक्य, लिच्छवि आदि गण क्षत्रिय बहुल राजशब्दोपजीवी थे।⁴¹ लिच्छवि के 7007 राजाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। महात्मा गौतम बुद्ध शाक्यों के प्रजातन्त्र राज्य में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता शुद्धोदन इसी शाक्य गण के प्रधान थे। अतः इन गणों की शासन पद्धति कितनी जनतन्त्रात्मक या सामन्ततन्त्रात्मक थी, इस विषय पर निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन राजवंशों ने बौद्ध धर्म के प्रसार में बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान दिया।

सन्दर्भ :-

1. संयुक्त निकाय: 1, पृ 76, अंगुत्तर निकाय: 2, पृ 42, सुत्त निपात: 2/7/20
2. दीघ निकाय: 2, पृ 127, संयुक्त निकाय: 1, पृ 76, अंगुत्तर निकाय: 4, पृ 41
3. ऐतरेय ब्राह्मण: 40-1
4. एस0बी0इ0 13: पृ 124
5. डा0 मदनमोहन सिंह : बुद्धकालीन समाज और धर्म, पृ 126-27
6. जनार्दन भट्ट : बौद्धकालीन भारत, पृ 18-19
7. जनार्दन भट्ट: बौद्धकालीन भारत पृ0-23
8. डा0 गोविन्दचन्द्र पाण्डेय : बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ 22-23
9. जनार्दन भट्ट : बौद्धकालीन भारत, पृ 23
10. ऋग्वेद : : 1.168.48
11. डा0 जयशंकर मिश्र : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ 628
12. रमेशचन्द्र दत्त : प्राचीन भारत की सभ्यता का इतिहास, पृ 79-98
13. बाथ : दि रिलिजन्स आफ इण्डिया, पृ 6-12
14. डा0 मदनमोहन सिंह : बुद्धकालीन समाज और धर्म, पृ 129
15. ऋग्वेद : : 2.62.10
16. नलिनाक्षदत्त : उत्तर प्रदेश में बौद्धधर्म का विकास, पृ 25
17. वही
18. ऋग्वेद: 1.32
19. महाभारत: समापर्व 11/9
20. डा0 मदनमोहन सिंह: बुद्धकालीन समाज और धर्म, पृ 133
21. वैदिक इण्डेक्स: 2, पृ 182, तैत्तरीय ब्राह्मण: 3/12/3/1, शतपथ ब्राह्मण: 14/8/5/1, कौषीताक उपनिषद्: 9.5 केनोपनिषद् : 1.5
22. वैदिक इण्डेक्स : 2, पृ 33, 43
23. अथर्ववेद : 5/4/3, ऐतरेय ब्राह्मण 7/30-33, कौषीतकी उपनिषद्, 1/3
24. सर जान मार्शन : मोहनजोदड़ों एण्ड इन्दूज सिविलाइजेशन, पृ 63-65
25. जातक : 1, पृ 259, 328, 412, 425 2, पृ 440
26. ऑरिजिन्स आव बुद्धिज्म : पृ 298-99, 289-90
27. बृहदारण्यकोपनिषद् : 3.5.1.4, 4.4.21
28. भगवतगीता : 17.3.4
29. कुमारस्वामी : यक्षज भाग 2
30. जी0सी0 पाण्डेय : बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ 23
31. ऐतरेय ब्राह्मण: 8.3.14
32. अथर्ववेद: 20.127.9-10, 19.30.3-4, 3.4.2, 6.9.8.2
33. आर0 फिक: सोशल आर्गेनाइजेशन इन नार्थ ईस्टन इण्डिया इन दि एज आफ बुद्ध
34. अंगुत्तर निकाय: जि0 1 पृ 213, जि0 4, पृ 252, 256, 260
35. भगवती सूत्र
36. डा0 गोविन्दचन्द्र पाण्डेय : बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ 17
37. वही, पृ 18
38. जनार्दन भट्ट : बौद्धकालीन भारत, पृ 14
39. महाभारत: शान्ति पर्व, अध्याय 107
40. दीघ निकाय:
41. अर्थशास्त्र: (त्रिवेन्द्रम संस्करण) : जि0 3, पृ 144